संपादकीय

(1) सडक नापने के सुख...

''उत्तर प्रदेश अब बिहार जैसा बनता जा रहा है और बिहार उत्तर प्रदेश से भी बेहतर.'' ट्रेन अभी दिल्ली से चली ही थी कि बिहार की विचार यात्रा शुरू हो गयी थी. मिर्जापुर के एक उद्योगपति- राजनेता- ठेकेदार एक ही वा'य में मायावती और नीतीश कुमार सरकार पर क्र मश: अविश्वास और विश्वास प्रस्ताव पेश कर रहे थे. मांगने पर उन्होंने एक शब्द में प्रमाण दिया- ''सडक''. क्षण भर के लिए लगा कि यह एक ठेकेदार की राष्ट्रनिर्माण के प्रति टेंडरमई दृष्टि का नमूना है. राष्ट्र निर्माण यानी पुल-बांध, बिल्डिंग और सडक का निर्माण. इस खयाल की गुदगुदी से बाहर निकला, तो उनकी चुनौती सुनाई पडी- ''आप वहां जा रहे हैं. अपनी आंखों से देख लीजियेगा.''

खुद अपनी आंख से देखने, जांचने और परखने की अनिवार्यता ही तो मुझे एक बार फिर बिहार खींचे लिए जा रही थी. बिहार में विकास के दावों और प्रतिदावों को महज आंकडों या फिर अखबारी रपट के आधार पर जांचा नहीं जा सकता. यहां आंख से देखने का कोई विकल्प नहीं है या कि यह लोकतंत्र के इस तीर्थ में एक बार फिर डुबकी लगाने का बहाना मात्र है? जो भी हो, सडक नापने का कोई विकल्प तो था नहीं. पटना स्टेशन उतरते ही एक आंख सडक पर गडा दी. शहर की सडकें पहले से बेहतर थीं, लेकिन प्रचार की तुलना में और जयपुर या फिर भोपाल के मुकाबले साधारण ही कहलायेंगी. यूं भी असली परीक्षा तो राजधानी से बाहर निकलने पर ही शुरू होगी. शायद मेरे मन के किसी कोने में आठ बरस पहले बिहार की एक और यात्रा की स्मृति जीवित थी. मुजफ्फरपुर से सीतामढी के बीच 57 किमी का फासला तय करने में सात घंटे लगे थे. पहले बस में यात्रा, फिर जाम में फंसी बस में यंत्रणा. किसी तरह से टेंपो में लद कर जाम के उद्गम तक का सफर, फिर नौका से बाढ का पानी पार. पानी के किनारे से ठेलेनुमा-रि'शे में सामान रख पैदल मार्च. अंतत: एक और बस में रेंगते, घिसटते गंतव्य की प्राप्ति. अब पटना से बाहर निकल सडक नापते तीन दिन हो चुके हैं. गाडी राष्ट्रीय राजमार्गों पर

उड चुकी है, बिहार के राजमार्गों पर दौड चुकी है, अंदरूनी इलाकों की छोटी सडकों पर चल चुकी है. कच्चे रास्तों पर धूल फांक चुकी है. गाडी साबूत है और सवारियां सलामत. कभी -कभार पुरानी किस्म की गड्ढानुमा सडकों की झलक मिल जाती है, लेकिन कुछ दूरी के लिए ही. पंजाब-हरियाणा या दक्षिण भारत की तुलना में आज भी बिहार की सडकें उन्नीस लग सकती हैं, लेकिन अगर तुलना पांच साल पहले के बिहार से करें, तो निस्संदेह कायापलट हो चुका है. नीतीश कुमार सरकार ने साबित कर दिखाया है कि राजनैतिक इच्छाश'ित और प्रशासनिक चुस्ती से असंभवप्राय: लगने वाले काम को भी सरअंजाम दिया जा सकता है. इस सच को नीतीश सरकार के घोर आलोचक भी दबी जुबान मानते हैं. वे इतना जरूर कहते है कि सडक बनाने का सारा पैसा केंद्र सरकार और प्रधानमंत्री योजना से आया, लेकिन आम जनता को इन बारीकियों से 'या मतलब ? कभी तैश में आकर यह भी कहते हैं कि जिसके पास कार नहीं है, वह सडक को 'या चाटेगा? लेकिन आम वोटर इस कुतर्क से प्रभावित नहीं होता. उसके लिए सडक का मतलब है शिक्षा और रोजगार के बेहतर अवसर, तीज-त्योहार पर रिश्तेदारों से मिलने की सुविधा और इमरजेंसी में अस्पताल पहुंच जान बचाने की संभावना . सडकें तो बनीं, लेकिन 'या सडक ही विकास है ? 'या सडक का पुण्य वोटों की श'ल ले पायेगा? इन सब सवालों को मन में रख फिर बिहार और उत्तर प्रदेश की तुलना कर रहा था. तभी मायावती की चुनावी रैली की रपट पर नजर पडी. रपट के मुताबिक मायावती ने बिहार में उत्तर प्रदेश जैसा विकास लाने का वादा किया है. सोचने लगा कि यह बिहार में आशा जगायेगा या आशंका ?

(2) इसे विकास नहीं बस आस कहिए

विकास की सच्ची कसौटी अंतिम आदमी है. शायद यही विचार हमें सुपौल जिले की कनौली पंचायत के मुसहर टोले तक ले गया होगा. भौगोलिक व सामाजिक हाशिये के इस अंतिम छोर पर. इस गांव से आगे नेपाल शुरू हो जाता है. दरअसल मुसहर टोले तक पहुंचने के लिए भारत की सीमा-चौकी पार कर एक प'के-कच्चे रास्ते से वापस आना पडता है. मानो सामाजिक सीढी के अंतिम पायदान पर खडे इस समुदाय को देश के बाहर ठेलने की कोशिश हो. एक पोखर के इर्द-गिर्द बसे इस टोले में कुल सत्तर घर हैं. राज्य सत्ता की उपस्थिति को दर्ज कराता दो कमरे का एक प्राथमिक विद्यालय है और उसके सामने खडा सामुदायिक भवन, जो आंगनबाडी का काम करता है. कुछेक सूअरों व आवारा कुत्तों को छोड मवेशियों की कमी विपन्नता के एहसास को गहरा करती है. अधिकतर पुरुष मजदूरी करते हैं, जब मिले तब. जॉब कार्ड (रोजगार गारंटी योजना में मजदूरी के लिए अनिवार्य कार्ड) सबका बना है, लेकिन एक-दो दिन छोड कर काम नहीं मिला है. बस्ती में तीन-चार लडके मैट्रिक पास कर गये हैं, लेकिन किसी को नौकरी नहीं मिली है. रोजगार का कोई पु'ता साधन है, तो वह है दिल्ली-पंजाब. सभी तीर के साथ उपेंद्र दिल्ली से कमाई कर आजकल घर आये हुए हैं.बातचीत से आत्मविश्वास झलकता है. बडे शहर की गुमनामी ने सामाजिक दंश से मु'ित दिलायी है. बाहरी लोगों से बातचीत की शुरुआत वही करते हैं. यहां सभी लोग तीर छाप के साथ हैं' कारण पूछने पर वह पिछले पांच सालों का काम गिनाना शुरू कर देते हैं. टोले के अधिकतर परिवारों को बीपीएल कार्ड मिला हुआ है. अनाज-राशन मिलता है. कई परिवारों को इंदिरा आवास का पैसा मिला है. बिचौलिये पांच-दस हजार खा जाते हैं. फिर भी मकान बनाना शुरू करने के लिए पैसा है. कुछ परिवारों को जमीन का पट्टा देने के लिए जमीन खोजी जा रही है.

अध्यापकों की योग्यता पर असंतोष स्कूल की चर्चा होती है, तो बाकी लोग भी जुड जाते हैं. टोले के लगभग सभी बच्चे स्कूल जाते हैं. बाहर के बच्चे भी इसी स्कूल में आते हैं. कोई ढाई सौ बच्चे, छह अध्यापक. कमरे भले ही दो ही हों, लेकिन वो कोई बात नहीं. गुरु जी पेडों के नीचे बच्चों के साथ बैठ जाते हैं. बाकी गांवों में अध्यापकों की योग्यता को लेकर भारी असंतोष था, लेकिन यहां ऐसी नफासत के लिए फुरसत नहीं थी. तीसरी कक्षा के बच्चे को तीन का पहाडा सुनाते देख उसकी मां खिली जा रही थी. स्कूल में खाना मिलता है. मां हर दिन का मेनू गिनाना चाहती है. उनकी अपनी बडी बेटी को खाना बनाने का काम जो मिला है. बच्चों को बूट, मोजा व पोशाक मिले हैं. बाकी गांवों में पोशाक के पैसे मिले हैं. हर स्कूल की तरह यहां भी बच्चों को सभी किताबों के सेट मिले हैं.

आज की मजदूरी में भी गरिमा दसवीं पास करने पर लडकियों को साइकिल मिलती है, यह पता है. लेकिन अभी इस टोले की कोई लडकी उसके आस-पास नहीं है. अस्पताल में सुधार की चर्चा जोरों पर थी, लेकिन इस कोने में किसी ने डॉ'टर या सरकारी दवाखाना नहीं देखा था. टोले के भ'त जी यानी समाज के अपने पंडित, कुल मिला कर हालात से असंतुष्ट नहीं हैं. उन्हें अपने मां-बाप का जमाना याद है. तफस7ल में नहीं जाते, सिर्फ इतना कहते हैं कि उन दिनों की याद करने पर आंखों में आंसू और खून ढलकता है. उसकी तुलना में आज की मजदूरी में भी एक गरिमा है. यह बदलाव कब हुआ और 'यों? वे पिछले बीस सालों के दौर को चिह्नित करते हैं - जब से दिल्ली-पंजाब जाना शुरू हुआ' इसी दौर में तो लालू प्रसाद सत्ता में आये थे. यह याद दिलाने पर वे खुले मन से स्वीकार करते हैं कि लालू प्रसाद ने सबसे पहले गरीब को इज्जत दी. उसे सिर उठाने की हिम्मत दी. लेकिन, उसके बाद तो हम लोगों के लिए और कुछ नहीं किया. अब नीतीश बाबू कुछ कर रहे हैं. बरकरार है उम्मीद जाते-जाते बिजली का प्रसंग छिडा. नौजवान शिकायत करते हैं कि सोलर लाइट पडोस के टोले में दी गयी, लेकिन उनके टोले में नहीं दी गयी. भ'त जी आश्वस्त करते हैं- इस बार नीतीश वापस आयेंगे, तो बिजली जरूर आयेगी, हमें इस सौर लैट वाले झरोखे की 'या जरूरत' कनौली से लौटते हुए मैं सोचता रहा. विकास बहुत भारी शब्द है. अंतिम व्य'ित तक विकास भले ही न पहुंचा हो, आस जरूर पहुंची है. यह 'या कम है !

(3) जात न पूछो रेणु की

फ णीश्वरनाथ रेणु की जाति 'या थी? सवाल फारबिसगंज छोडने के 48 घंटे के बाद मन में आया. फारबिसगंज मेरे मन में एक काल्पनिक शहर का नाम है, जो रेणु के उपन्यासों में बसा है. जाहिर है सपने का फारबिसगंज मेरे सपने का बोझ न ढो सका. फिर भी अररिया जाते समय रेणु का दीवाना मेरा मन उनके गांव को देखने की जिद करने लगा. हाइवे से सटा सीमेंट का सादा-सपाट-सा द्वार, जिसे रेणु द्वार कहा जाता है. सिमराहा में किसी महामहिम के कर कमलों से अनावृत रेणु की सुनहरी आदमकद

प्रतिमा. और फिर ईंट के रास्ते से होते हुए रेणु का गांव औराही हिंगना. रेणु के बेटे चुनावी समर में रेणु के घर में कुछ था, जो मन को छू गया. शायद उनके परिवार का आत्मीय व्यवहार. शायद उनके अपने कमरे का साक्षात दर्शन. शायद रास्ते में लहलहाते हुए खेत, आंखों में गडती हुई हरियाली, खेतों के बीच पेडों के गुलदस्ते. शायद इसी पगडंडी पर लाल पान की बेगम अपनी बैलगाडी में बैठ कर

इतरायी होंगी. शायद यहीं किसी टोले में पंच लाइट आयी होगी. अगर रेणु के घर के बाहर खडी जीपों और वहां लगे बैनर को न देखता, तो यह भूल ही जाता कि रेणु के बेटे पद्म पराग वेणु इस बार चुनाव लड रहे हैं और वह भी भाजपा के टिकट पर. इस विडंबना को मन से धकेला ही था कि अगले दिन फारबिसगंज विधानसभा क्षेत्र का चुनावी विश्लेषण पढा.अखबार के मुताबिक वेणु को टिकट देते समय भाजपा ने जातीय समीकरण को ध्यान में रखा है. इस क्षेत्र में उनके स्वजातीय 'मंडल' समुदाय के अमुक हजार मतदाता हैं. तभी यह सवाल कौंधा- 'मंडल' यानी कौन जाति? फणीश्वरनाथ रेणु की जाति 'या थी? फॉरवर्ड थे कि बैकवर्ड? मैंने पहले कभी यह सवाल 'यों नहीं पूछा? आखिर इस बारे में सोच ही 'यों रहा हूं? इस दुविधा में फिर रेणु का ही दामन थामा. 'परती परिकथा' के गांव में चकबंदी के लिए सर्वे का काम हो रहा है. 'बाउंड्री ' खींची जा रही है. यह बाउंड्री गांव के हर रिश्ते के बीच में खींची जा रही है. भाई-भाई को बांट रही है. दोस्तों को दुश्मन बना रही है. स्थापित समीकरणों को उलट-पुलट रही है. नये-नये रिश्ते व अजीबोगरीब दोस्तियां गढ रही है.

नजर विकास पर, फिर भी चश्मा जातीय चुनावी राजनीति भी तो ऐसी ही एक वेल्डिंग मशीन है, जो रिश्तों को काट रही है, जोड रही है. कल तक राजनीति के उत्तर एवं दक्षिण ध्'व ब'ाह्मण और राजपूत को फॉरवर्ड के खेमे में एक साथ बैठने को मजबूर करती है. उधर, बैकवर्ड को पिछडे व अति पिछडे में बांटती है. गोप व ग्वाल को यादव लेबल से जोडती है, तो चर्मकार और मुसहर को महादलित की गोंद से जोडती है. अगर आप मान बैठे कि इस खेल में मुसलमान एक अविभाजित इकाई है, तो किसी भी ढाबे पर आपको मुसलिम समाजशास्त्र का ककहरा पढा दिया जायेगा. सैयद, शेख, कुलैया, बधिया, सुरजापुरी......'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' दोनों आधुनिक विकास के हसीन सपने की कहानियां हैं. लेकिन, रेणु की पैनी दृष्टि हमें हर कदम पर आगाह करती है कि हर गांव का हर टोला विकास के सपने को अपने जातीय चश्मे से देखता है. यही शायद बिहार के इस चुनाव की कहानी है. नजर सबकी विकास पर है, लेकिन जाति का चश्मा अभी उतरा नहीं है. रेणु की कहानी में अंतत: विकास की जीत होती है. लेकिन, सुखांत के साथ-साथ दुखांत भी जुडा होता है.

इस रूपक को बिहार के चुनाव में ढालते-ढालते मुझे फिर याद आया. आखिर फणीश्वरनाथ रेणु की जाति 'या थी? मैंने तय किया कि मुझे अब इस सवाल का उत्तर नहीं चाहिए.

(4) दिल में नीतीश,पर...

अ गर बत्ती गुल न होती, तो हमारी मुलाकात फैयाज साहब से न होती. उस दिन सुबह से हम अररिया से लेकर पूर्णिया तक के मुसलिम बहुल इलाके में घूम कर मुसलिम मतदाताओं के मन को भांपने की कोशिश कर रहे थे. अब थकावट हो चली थी और शाम भी ढलने लगी थी. सोचा, रात होने से पहले एक जगह और घूम लिया जाये. हाइवे पर दशमी का मेला चल रहा था, वहीं उतर कर नजदीक के मुसलिम गांव के बारे में पूछताछ की. पता लगा कि एकदम सटा हुआ है, पैदल ही जा सकते हैं. गांव कुमरवा, जिला पूर्णिया, विधानसभा क्षेत्र बायसी चौक की जगमगाहट से गांव में उतरने पर घुप अंधेरे ने हमारा स्वागत किया. कीचड और गंदगी से किसी तरह बचते हुए अंदर घुसे, तो कहीं एक भी मर्द दिखायी नहीं दे रहा था. साइकिल पर चलते-चलते एक सज्जन ने समझाया कि इस वक्त सब मर्द लोग चौक पर बैठते हैं, वहीं जाकर बात कीजिए. हम लौटने लगे थे कि मदरसे के भीतर इमरजेंसी लाइट की रोशनी में एक श'स को बैठे देखा. मोहम्मद फैयाज आलम मदरसे में किरानी हैं. अंदाजे.बयां से आप यह भी सोच सकते थे कि वे यहां के आलिम हैं. दिल में नीतीश बसा है, लेकिन भोट लालटेनवा पर जायेगा. चुनाव की बात छिडते ही उन्होंने स्थानीय समुदाय की मानसिकता को सूत्रबद्ध किया. बात नयी नहीं थी, लेकिन भाषा ने चौंकाया. यों तो बिहार की राजनीतिक भाषा में अलंकार और रूपक मुझे हमेशा आकर्षित करते हैं, लेकिन दिल में बसने वाली बात किसी और मुसलमान ने नहीं कही थी. सुबह से दर्जनों लोगों से बात कर चुके थे. सबने नीतीश सरकार की तारीफ की थी. सडक, अपराध में कमी, स्कूल में सुधार और अस्पताल की चर्चा मुसलमान ठीक उसी तरह कर रहे थे, जैसे बाकी सब लोग. फैयाज. साहब ने गिनाया कि उनके मदरसे के लिए इस सरकार ने 'या-'या किया. अब तक बिजली आ गयी थी और हम देख सकते थे कि मदरसे की हालत बाकी स्कूलों से उन्नीस नहीं थी. जदयू के भाजपा से गंठबंधन की बात उठाने से भी उनके जवाब में कोई फर्क नहीं पडता था. कहा, गंठबंधन है, लेकिन हमें 'या फर्क पडता है के तर्ज पर बात सुनने को मिली. मुसलिम समाज में एक अजब बेपरवाही-सी थी, मानो बिहार की सत्तारूढ सरकार में भाजपा शामिल ही न हो. एक भी व्यक्ति ने संघ परिवार या हिंदुत्व के खतरे की बात नहीं उठायी.   अब तक कुछ और लोग जुड गये थे. उन्होंने वोट के बारे में फैयाज साहब के विश्लेषण को पुष्ट किया. कई क्षेत्रों में घूमने के बाद यह स्पष्ट हो गया था कि नीतीश सरकार के बारे में अच्छी राय रखने का मतलब यह नहीं है कि वोट जदयू-भाजपा गंठबंधन को ही पडेगा. बायसी क्षेत्र को ही लें, यहां मुसलिम कुल आबादी का कोई 75 फीसदी हैं. तीन दमदार मुसलिम उम्मीदवार हैं. राजद, कांग'स और वर्तमान विधायक, जो निर्दलीय हैं, सत्तारूढ गंठबंधन की तरफ से भाजपा ने एक हिंदू उम्मीदवार दिया है. तीनों के बीच वोट बंटने से कहीं भाजपा का उम्मीदवार न निकल जाये, इस वजह से मुसलिम वोट राजद के लोकप्रिय उम्मीदवार हाजी सुभान के पक्ष में झुका लगता है, लेकिन ये वोट हाजी सुभान का है, राजद का नहीं. नीतीश के लिए लाख हमदर्दी हो, लेकिन उसके चलते मुसलमान अपना वोट भाजपा को तो नहीं डाल सकता. हां, अगर जदयू का उम्मीदवार खडा हो जाता, तो वह मुसलमान वोट का बडा हिस्सा ले जाता. कांग'स का उम्मीदवार जहां बेहतर है, उसे भी वोट मिलेगा. लालू प्रसाद के बारे में सब लोगों ने आदर और स्नेह के साथ बात की, लेकिन यह भी कहा कि उनके राज में दंगों से हिफाजत के सिवा और कुछ मिला नहीं. वोट लालटेन को पड सकता है, लेकिन अब मुसलमान लालटेन से बंधा हुआ नहीं है. बिजली आ-जा रही थी और बाकी लोग भी. भीड छंटने पर मैंने फैयाज साहब से अयोध्या फैसले की बात छेडी. फटाक से जवाब मिला, नहीं. उसका कोई असर हमारे यहां नहीं है. यहां अमन है, हिंदू-मुसलिम के बीच कोई वैसी बात नहीं है. यह उत्तर सुबह से दसियों बार सुन चुका था और मेरा अगला सवाल भी तैयार था. अमन तो मिला, लेकिन इंसाफ मिला 'या? इस सवाल के जवाब में मैंने अ'सर चुप्पी सुनी थी, लेकिन फैयाज साहब चुप रहने वाले श'स नहीं हैं. छोडिए, इंसाफ मांग कर हमें 'या मिलेगा. हमारे साथ कौन खडा होगा? मैंने प्रतिवाद किया, चूंकि मैं नहीं मानता कि हिंदुस्तान में इंसाफ से साथ खडे होने वाले लोग नहीं हैं. अब फैयाज साहब के स्वर में तल्खी थी. भागलपुर हुआ, मेरठ हुआ, गुजरात हुआ. उसके बाद कोई इंसाफ हुआ? हमें गला कटवाना है इंसाफ मांग कर? देखिए जनाब, हम इस देश में मेहमान की तरह हैं, उसी औकात में रहें, तो हमारे लिए अच्छा है.

मैं उनसे तर्क-वितर्क करना चाहता था, झगडना चाहता था. आप भला मेहमान कैसे हुए? जिस मिट्टी में मेरे दादा-परदादा की राख है, उसी में आपके पुरखे भी गडे.हैं. मुसलमान इस देश में किरायेदार नहीं हैं, वे भी उतना ही मालिक हैं, जितना मैं हूं. पता नहीं कितनी बात उनसे कह पाया और कितनी अपने आप से कही. शाम अचानक रात में बदल गयी थी.